सामाजिक जनतंत्र के सवाल

प्रफुल्ल कोलख्यान

समय के संकेत और सच

समय सदैव एक अबूझ पहेली रहा है। समय सभ्यता की सबसे जटिल संरचना है। जाहिर है समय को समझना आसान नहीं है। घटनाओं के क्रम को समय कहा जाता है। इसे थोड़ा फैलाने पर यह बात सामने आती है कि समय कार्य-शृँखला है। हम जानते हैं कि कार्य बिना कारण के संभव नहीं होते, उसके पीछे कारण हुआ करते हैं। अतः कार्य-शृँखला के साथ-साथ ही कारण-शृँखला भी चलती है। कारण-शृँखला और कार्य-शृँखला एक अपर के समांतर पर नहीं चलते हैं, बल्कि एक दूसरे में सन्निहित होकर चलते हैं। कारण कार्य में और कार्य कारण में निरंतर प्रत्यावर्त्तित होते रहते हैं। यह प्रत्यावर्त्तन जितना तीव्र होता जाता है उतना ही मुश्किल होता जाता है कार्य और कारण को एक अपर से अलगाकर उनकी पहचान स्थिर करना। कहना न होगा कि सारे कार्य अपने अंतिम परिणाम में शुभ नहीं होते हैं। एक और मुश्किल यह है कि कारण-कार्यशृँखलाओं की ही तरह शुभ और अशुभ भी एक अपर में सन्निहित रहकर सहजाततः अभिन्न होते हैं। मानवीय उद्यमशीलता शुभ और अशुभ की इस सहजात अभिन्नता को तोड़ती है और शुभ की स्वीकार्यता और अशुभ की अस्वीकार्यता को बढ़ाने की कोशिश करती है। शुभ और अशुभ को चिह्नित करने में सबसे बड़ी भूमिका स्वार्थ तय करता है। वर्ग-विभक्त समाज में वर्गों के स्वार्थ न सिर्फ भिन्न, बल्कि संघाती भी होते हैं। संवाद के माध्यम से व्यक्तिगत और वर्गीय स्वार्थ को स्थगित करते हुए व्यापक सामाजिक हित को स्वीकार्य बनाने की सामाजिक प्रक्रिया भी चलती रहती है। जनतंत्र के राजनीतिक ढाँचे में सामाजिक हित की अंतर्वस्तु के संस्थापन की अटूट प्रक्रिया के सही ढंग से निरंतर संपादित न होते रहने से राजनीतिक जनतंत्र भारी असंतुलन का शिकार हो जाता है। इस असंतुलन के कारण एक ओर से सामाजिक हित का बोध निर्थकता के भँवर में फँसता जाता है तो दूसरी ओर से स्वार्थों के संघात में तीव्रता की आत्मघाती प्रवणता भी बढ़ती जाती है। समता और सहकार की इच्छा, ज्ञान, भावना, क्रिया और शक्ति जनतंत्र की मूल संचालिका होती है। जिस व्यवस्था में जितनी विषमतारोधी और समतापोषी सहकारी क्षमता और

सक्रियता होती है, वह व्यवस्था उतनी ही जनतांत्रिक होती है। आज राजनीतिक राज्य सामाजिक कल्याण, जिसका मूल निहितार्थ सामाजिक समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और सहकार के अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकता है, के अपने दायित्व से हाथ झाड़ लेने की कोशिश प्राणप्रण से कर रहा है। शुभ-लाभ के युग्म से विच्छिन्न लाभ किसी भी सूरत में सामाजिक हित का पोषण नहीं कर सकता क्योंकि इस लाभ का जन्म लोभ से होता है। शुभ को खंडित कर हासिल लाभ विषमता को बढ़ाता है। स्वस्थ जनतंत्र शुभ-लाभ के युग्म को विच्छिन्न किये जाने की प्रक्रिया को रोकता है। शुभ-लाभ के युग्म के विच्छिन्न होने से जनतंत्र की अंतर्वस्तु में छीजन उत्पन्न होती है। यह, जनतंत्र की अंतर्वस्तु में उत्पन्न छीजन का ही नतीजा है कि हमारे समय के कुछ प्रतिष्ठित मेधावी लोग ***विषमता की पुनर्परीक्षा*** करते हुए अंततः अपनी सदाशयता में इस या उस ओर से प्रकृति की विविधता की स्वाभाविकता के हवाले से सामाजिक विषमता की स्वाभाविकता के पक्ष में तर्क देने लगते हैं। बहुत ही सुनियोजित तरीके से वृद्धि को विकास का पर्याय बनाकर प्रचारित किया जा रहा है। वृद्धि सिर्फ मात्रात्मक होती है विकास को अनिवार्यतः गुणात्मक भी होना होता है। विषमतापोषी व्यवस्था वृद्धि की मात्रात्मकता को जीवन की गुणात्मकता में बदलने से रोकती है। कहना न होगा कि आज मात्रात्मक विषमता बहुत तेजी से गुणात्मक विषमता में बदल रही है। इस स्तर पर यह बिल्कुल साफ है कि यह समय राजनीतिक जनतंत्र की अंतर्वस्तु में उत्पन्न भारी छीजन का संकेत दे रहा है। राजनीतिक जनतंत्र के स्वास्थ्य के लिए सामाजिक अंतर्वस्तु औषधि का काम करती है। यहीं सामाजिक जनतंत्र के सवाल महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

विषमता को सामान्यतः आर्थिक वर्गों में विभक्त कर समझा जाता है। किंतु सामाजिक वर्गीकरण का एक मात्र आधार आर्थिक नहीं होता है। और इसीलिए सामाजिक विषमता को भी पैदा करने का एक मात्र आधार आर्थिक ही नहीं होता है। विषमता पर बात करने के लिए आवश्यक है कि उसके बहुवचनीय स्वरूप को समझा और बरता जाए। लिंग, जाति, धर्म, क्षेत्रीयता, राष्ट्रीयता, नस्ल, रंग-वर्ण, कद, शिक्षा, स्वास्थ्य, ज्ञान, योग्यता, उम्र, शारीरिक स्थिति जैसे अनेक कारक विभिन्न तरह की विषमताओं को उत्पन्न करते हैं और उनसे उत्पन्न कष्टकर स्थितियों में डालते हैं। एक निजी अनुभव के उदाहरण से बात स्पष्ट की जा सकती है। मैं लोकल ट्रेन का नित्य यात्री हूँ। मेरी कद-काठी औसत है। लोकल ट्रेन में अत्यधिक भीड़ होना सामान्य-सी बात है। मैं औसत कद-काठी के पुरुष होने के लाभ समझता हूँ। यात्रियों की सुविधा के लिए हत्था लगाते समय रेल प्रशासन स्वाभाविक तौर पर पुरुषों की औसत कद-काठी का ही ध्यान रखता है। इसे ध्यान में रखकर दो स्थितियों पर विचार किया जा सकता है। किसी यात्री की कद-काठी औसत भारतीय पुरुष की नहीं भी हो सकती है, वह या तो औसत से अधिक लंबा या नाटा हो सकता है। या फिर महिला होने के कारण उस की कद-काठी औसत भारतीय पुरुष की नहीं है। भीड़ में उसे खुद शारीरिक कष्ट तो होता ही है, सहयात्रियों की असुविधा का कारण बनने के कारण उनकी हिकारत

झेलता हुआ/ झेलती हुई मानसिक कष्ट भी भोगता/ भोगती है। इसी तरह पढ़े-लिखे लोगों की भीड़ में निरक्षर या भिन्न भाषा-भाषियों के साथ सफर कर रहे यात्री भी मानसिक कष्ट में पड़ते हैं। इसी तरह से विश्लेषण को आगे जारी रखने पर विभिन्न तरह की विषमताओं के आधार पर होनेवाले सामाजिक बरतावों को समझा जा सकता है। एक गरीब सामान्यतः अपनी जाति, अपने धर्म, अपने जनपद आदि के अमीर से अधिक निकटता अनुभव करता या करती है बनिस्वत अपनी जाति, अपने धर्म, अपने जनपद आदि से भिन्न दूसरे किसी गरीब से। ध्यान से देखने पर यह बात निथरकर सामने आने लगेगी कि विषमता के अर्थेतर आधार आर्थिक विषमता से संघर्ष के रास्ते में अनिवार्य एकजुटता का बहुत बड़ा अवरोधक तैयार करता है। कुल मिलाकर यह कि विभिन्न प्रकार की विषमताओं के कारकों में बड़ी एकजुटता है, यह एकजुटता विषमता की बहुवचनीयता को एकवचनीयता में बदलकर सबल बना देती है -- विषमता का एक कारक दूसरे कारकों को बल पहुँचाकर उनमें गुणात्मक वृद्धि कर देता है -- एक गरीब विकलांग अपने ही स्तर के अमीर विकलांग की तुलना में गुणात्मक रूप से अधिक दुख भोगता है। गरीबी अपनेआप में बहुत बड़ी विकलांगता है। विषमता के पक्षधर अन्य प्रकार की विषमताओं के महीन-मोटे तंतुओं को जोड़कर आर्थिक विषमता का औचित्य साबित करने के लिए अपना बौद्धिक तर्कजाल बुनते हैं। अर्थात विषमताओं के अन्य प्रकारों का उपयोग आर्थिक विषमता को बनाए रखने के मूल लक्ष्य को सिद्ध करने में होता है। दूसरी तरफ आर्थिक विषमता के विरोधी भी विषमताओं की मौलिक बहुवचनीयता की अवहेलना करते हुए सीधे आर्थिक विषमता से जूझते हैं और स्वभावतः बार-बार विफल होते हैं। दरअसल, सभी प्रकार की विषमताओं के शरीर का सिर आर्थिक विषमता तो होता है, लेकिन अद्‌भुत यह कि विषमताओं के प्राण उसके सिर में नहीं बल्कि उसके नाखूनों में बसता है-- एक बार काट दो तो फिर बढ़ जाता है। भिन्न प्रसंग में हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंध कि चिंता पठनीय है कि नाखून क्यों बढ़ते हैं। आंबेडकर ने सही संदर्भ में इसे समझकर स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व का निषेध करनेवाले देश के दो दुश्मनों ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद को जोड़कर उनसे एक साथ कामगारों के संघर्ष पर जोर दिया था।1 विषमता विष है, सामाजिक विषमता सामाजिक विष है। सवाल यह है कि क्या राजनीतिक जनतंत्र अपनी पूरी सदाशयता के बावजूद इस विष से अकेले निपट सकता है? इसका उत्तर अपने अंतिम निष्कर्ष में नकारात्मक है और इसीलिए सामाजिक जनतंत्र के सवाल महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

यह सच है कि समय विरोधी और व्याघाती संकेतों का है। व्यवस्था के नाम पर अव्यवस्था का बोलबाला है। ऐसा नहीं कि आदमी ने इसके पहले कभी अंधकार का सामना किया ही न हो। यह भी नहीं कि पहले कभी आदमी के मन में कोई विचलन हुआ ही न हो। फिर भी मानव सभ्यता पर अंधकार का ऐसा आच्छादन शायद पहले कभी नहीं था। यह तो मानना ही होगा कि इस बार अंधेरा कुछ भिन्न चरित्र के साथ उपस्थित हुआ है। अंधकार के इस भिन्न चरित्र को खोले बिना प्रकाश की खोज के लिए उठाया गया प्रत्येक कदम हमें और

अधिक अंधकार की ओर ही खींच कर ले जायेगा। यह मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि इस अंधकार का गहरा संबंध राजनीति से तो है, लेकिन इस अंधकार का संबंध सिर्फ राजनीति से नहीं है। मानव सभ्यता की जययात्रा के रास्ते में राजनीति के अलावे भी बहुत सारे साथी, और भी बहुत सारे महत्त्वपूर्ण सहयोगी रहे हैं। राजनीति के अतिरिक्त मानव सभ्यता की जययात्रा के इन सहयोगियों की आज की भूमिका पर भी ध्यान देना जरूरी है। कहना न होगा कि राजनीति मानव सभ्यता की जययात्रा में समस्त मानव उद्यम के विभिन्न सकारात्मक प्रतिफलनों को धारण किये रखने और नकारात्मक प्रतिफलनों को व्यवहार-विच्युत करने की सामाजिक प्रक्रिया है। इसी सामाजिक प्रक्रिया में राजनीति का महत्त्व अंतर्निहित होता है। आज की राजनीति की मुख्य धारा अपनी इस सामाजिक प्रक्रिया से खुद विच्युत होकर महत्त्वहीनता की गिरफ्त में फँस रही है। समझना होगा कि महत्त्वहीनता की यह गिरफ्त राजनीति के विराजनीतिकरण की सामाजिक वैधता का रास्ता प्रशस्त करती है। भूलना आत्मघाती होगा कि यह विराजनीतिकरण भी अपनेआप में एक राजनीतिक प्रक्रिया ही है। आज के समय में विभिन्न प्रभावशाली निकायों की ओर से विराजनीतिकरण की राजनीतिक कोशिशें हो रही हैं। इन कोशिशों का मुख्य उद्देश्य सभ्यता विकास की स्वयंसिद्ध सामाजिक प्रक्रिया में व्यवधान डालना है। अद्भुत यह कि इन कोशिशों में समाज को प्रधानता देने का ही भाव प्रदर्शित किया जाता है।

राजनीतिक और सामाजिक जनतंत्र का संबंध

यहाँ विराजनीतिकरण की राजनीतिक प्रक्रिया से बात शुरू की जा सकती है। वैसे तो मनुष्य की सामाजिक और राजनीतिक चेतना का विकास साथ-साथ ही हुआ है। लेकिन भारतीय संदर्भ में राजनीतिक चेतना के समकालीन परिप्रेक्ष्य को उन्नीसवीं सदी से जोड़कर देखने से बात स्पष्ट हो सकती है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जो राजनीतिक प्रक्रिया चली उसमें सामाजिक प्रक्रियाओं से न सिर्फ संवाद के लिए पर्याप्त अवसर और सम्मान था बल्कि सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया विश्वस्त सहचर के रूप में साथ-साथ गतिशील थे। संवाद के अवसर के लिए न सिर्फ असहमति की गुंजाइश की जरूरत हुआ करती है अपितु असहमति के प्रति पर्याप्त सम्मान के भाव का होना भी जरूरी होता है। कहना न होगा कि अहमति व्यक्त करने के लिए नैतिक साहस का होना भी कितना जरूरी होता है। अपने मत के प्रति निष्ठा, कर्मठता और निःस्वार्थ समर्पण से नैतिक साहस का गहरा संबंध होता है। जब सत्ता अपनी नहीं थी, अर्थात जनता की नहीं थी, तब स्वाभाविक रूप से जनता की सामाजिक प्रक्रिया में सत्ता की राजनीतिक प्रक्रिया से स्वतंत्र पलकदमी की क्षमता और आकंक्षा सक्रिय थी। राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया के बीच उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आरंभ संवाद की प्रक्रिया बीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध के अंत तक जारी रही। 1947 में देश आजाद हुआ। सत्ता का समीकरण बदला। बदले हुए समीकरण के कारण सामाजिक प्रक्रिया का राजनीतिक प्रक्रिया से संवाद के स्वरूप और संस्तर में भी अंतर आया। इस

बदलाव में सहज ही लक्षित किया जा सकता है कि जैसे-जैसे राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया के बीच संवाद के सूत्र छिन्न-भिन्न होते गये वैसे-वैसे सामाजिक प्रक्रिया स्थगन की शिकार होती गई और राजनीतिक गुणवत्ता में गिरावट आनी शुरू हो गई। राजनीतिक गुणवत्ता में गिरावट का प्रमुख कारण राजनीतिक जनतंत्र का सामाजिक जनतंत्र से समर्थित न होने को माना जा सकता है। स्वाधीनता के संदर्भ में सामाजिक समर्थन के महत्त्व से उस दौर का राजनीतिक मिजाज भलीभाँति परिचित था। उसके सामने सामाजिक जनतंत्र को हासिल करने की चुनौती थी। आंबेडकर सामाजिक जनतंत्र की आकांक्षा को बार-बार जगाने की कोशिश कर रहे थे। जवाहरलाल नेहरू समाजवादी मूल्यों की दुहाई दे रहे थे। गाँधी जी अंतिम आदमी के उत्थान को लेकर चिंतित थे। रवींद्रनाथ चित्त को भय शून्य बनाकर और सिर को उठाकर जीने की संभावनाओं को सुनिश्चत करनेवाली सामाजिक संरचनाओं के हासिल होने का स्वप्न सिरज रहे थे। प्रेमचंद समाज के आधारभूत स्तर पर सामाजिक जनतंत्र की आंतरिक पगबाधाओं के मानवीय सरोकारों को चिह्नित करते हुए स्वप्न के शोक में बदलते जाने की अदृश्य प्रक्रिया के अश्रव्य हाहाकार को संस्कृति की संवेदना का हिस्सा बना रहे थे। ठीक से देखें तो कई उदाहरणीय नाम और प्रसंग प्रत्यक्ष हो जोएँगे। इस तरह से सोचनेवाले लोगों के नाम की पूरी आकाश गंगा इतिहास के क्षितिज पर तैरती नजर आएगी। इस आकाश-गंगा की जोत मद्धम और रुग्ण हो गई है।

संविधान सभा को संबोधित करते हुए आंबेडकर ने ठीक ही कहा था कि सामाजिक जनतंत्र की आधारशिला के अभाव में राजनीतिक जनतंत्र का अक्षुण्ण बने रहना असंभव है। स्वाधीनता, समानता एवं भ्रातृत्व के त्रित्व के समेकित रूप एक को दूसरे से अलग करना लोकतंत्र के मूल उद्देश्य को नकार देना है। स्वाधीनता की मुख्य अंतर्वस्तु के रूप में समानता कारक विभिन्न तत्त्वों और अभिप्रायों का संपुट किये बिना जनतंत्र के बुनियादी उद्देश्यों को हासिल नहीं किया जा सकता है। आजादी के साथ ही हमने एक आत्मावरोधी जीवन-स्थिति को आत्मार्पित कर लिया। आंबेडकर ने संकट को लक्षित किया था। एक ओर राजनीति के क्षेत्र में समानता अर्थात एक-व्यक्ति एक-मत एवं एक-मत एक-मूल्य के सिद्धांत को स्वीकारना और दूसरी ओर सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में एक-व्यक्ति एक-मूल्य के सिद्धांत को अस्वीकार करना हमारे आत्मावरोध का बड़ा कारण साबित हुआ। यह सवाल तब भी शिद्दत से उठा था कि हम कब तक अपने सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में समानता को अस्वीकार करते रहेंगे? इस सवाल में एक धुँधला-सा भरोसा भी छिपा था कि बहुत दिनों तक नहीं अर्थात हमारा अगला प्रस्थान समानता उन्मुखी होगा, लेकिन अंततः यह भरोसा भटक गया। जिसका डर था आखिर वही हुआ, 'प्रजातंत्र के ताम-झाम' पर 'सामंती ताला' लटक गया। ऐसा होने के कारणों को खोजते हुए राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया के अंतरावलंबनों और अंतर्संबंधों की बारीकियों को समझना होगा।

राजनीतिक प्रक्रिया का लक्ष्य सत्ता की संरचना में परिवर्तन होता है। सामाजिक प्रक्रिया का

लक्ष्य समाज की संरचना में परिवर्तन होता है। सामाजिक संरचना और सत्ता संरचना में हमेशा एक रस्साकशी चलती रहती है। इस रस्साकशी के तनाव से राज्य और समाज में ही नहीं, व्यक्ति और निकायों, लोभ और लाभ आदि में कार्यकारी संतुलन बनता-बिगड़ता रहता है। राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया एक-दूसरे की सापेक्षता में आत्म-संघर्ष, आत्म-निरीक्षण और आत्म-परिवर्तन की निरंतरता के दौर से गुजरती रहती हैं। किसी एक के शिथिल पर जाने से यह कार्यकारी संतुलन टूटने लगता है, निरंतरता खंडित होने लगती है, भरोसा उठने लगता है और अंततः राजनीतिक प्रक्रिया निरंकुश और सामाजिक प्रक्रिया निःशक्त हो जाती है। राजनीतिक प्रक्रिया के निरंकुश और सामाजिक प्रक्रिया के निःशक्त होने का ही परिणाम है कि सार्वजनिकता का अधिकांश राजनीतिक प्रक्रिया पर आश्रित और उसी से संचालित हो रहा है। स्वाभाविक ही है कि सार्वजनिकता का अधिकांश राजनीतिक प्रक्रिया का अधीनस्थ होकर रह गया है। राजनीतिक प्रभुओं का वर्चस्व मजबूत हुआ है और समाज राजनीति का उपनिवेश बन गया है। यह ठीक है कि प्रत्येक उद्यम का एक राजनीतिक पक्ष होता है लेकिन यह सच नहीं है कि किसी भी उद्यम का सिर्फ राजनीतिक पक्ष होता है। आत्म-उपनिवेशन और बाह्य-उपनिवेशन के चरित्र में एक बुनियादी अंतर देखने को मिलता है। बाह्य-उपनिवेशन के दौर में उपनिवेशितों की राजनीति इतनी शक्तिशाली नहीं होती है कि वह समाज से अपने को काटकर चलने का दुस्साहस कर सके, क्योंकि वह तो खुद उपनिवेशकों की अधीनस्थ कार्रवाई होती है। स्वाभाविक है कि राजनीतिक प्रभुओं को उपनिवेशकों की मार से बचने के लिए बार-बार समाज के दरवाजे पर हाजिर होना पड़ता है -- माहौल कुछ-कुछ आम चुनाव जैसा बना रहता है। आत्म-उपनिवेशन के दौर में राजनीतिक प्रक्रिया शक्तिशाली और सामाजिक प्रक्रिया निःशक्त हो जाती है। प्रत्येक कार्रवाई राजनीतिक कार्रवाई हो जाती है। प्रत्येक कार्रवाई के महत्त्व का आकलन राजनीतिक दृष्टि से निर्धारित होता है। ऐसे में राजनीतिक प्रक्रिया और सामाजिक प्रक्रिया के संबंध की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। स्वस्थ राजनीतिक और सामाजिक प्रक्रिया के लिए अनिवार्य स्वतंत्र किंतु सहयोजी एवं समावेशी पहलकदमी का सापेक्षिक संबंध अवरुद्ध हो जाता है। इस अवरोध से बहुत सारी विसंगतियों, विकृतियों और परजीवी प्रवृत्तियों का जन्म होता है।

इतिहास का अनुभव

इतिहास का अनुभव बताता है कि अपरिपक्व सामाजिक प्रक्रिया का राजनीतिक प्रक्रिया में तत्त्वांतरण कभी शुभप्रद नहीं होता है। राजनीतिक प्रक्रिया अपनी चतुर्दिक वैधता के लिए सामाजिक प्रक्रिया को तत्परतापूर्वक आत्मसात कर लेती है, कई बार पचा भी लेती है। इस तरह सामाजिक प्रक्रिया दीर्घकालिक स्थगन की शिकार बन जाती है। इस स्थगन को तोड़ने में राजनीतिक प्रक्रिया की कोई दिलचस्पी नहीं होती है। इसलिए जो लोग सत्ता की राजनीति से दूर हैं या जिनकी दिलचस्पी सत्ता की भागीदारी में नहीं है उन्हें सामाजिक

मुद्दों और सार्वजनिक मामलों पर नागरिक हस्तक्षेप की दृष्टि से एकजुट होने की संभावनाओं पर दायित्वशील ढंग से अवश्य ही सोचना चाहिए। क्योंकि सत्ता का अपना चरित्र होता है, शायद सीमाएँ भी होती है। ध्यान में होना ही चाहिए कि चरित्र और सीमाओं की अनिवार्य प्रतिबंधकताओं से मुक्त तो कोई नहीं होता, न व्यक्ति, न जीवन और न संगठन ही। अंकुश का अस्तित्व अंकुश बने रहकर ही सार्थक हो सकता है, 'हाथी' बनने की उसे क्या जरूरत! और फिर किसी अंकुश के हाथी बनने के बाद भी अंकुश की जरूरत तो खत्म नहीं हो जाती! स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जारी सामाजिक प्रक्रियाएँ जिस दुर्घटना की शिकार हुई उसके सबक को याद रखना ही चाहिए।

अब जिनके लिए इतिहास और स्मृति मानव सभ्यता और मन पर लदा हुआ बोझ है और जिनकी दिलचस्पी इतिहास-मुक्त और स्मृतिहीन होने में है उनकी बात और है, लेकिन जिनकी दिलचस्पी आज के संकट को समझने तथा बदलने में है, उनके लिए इतिहास आज नये सिरे से महत्त्वपूर्ण हो उठा है। जब-जब वर्तमान पर संकट के बादल छाते हैं और भविष्य अंधकार में घिरता हुआ प्रतीत होने लगता है इतिहास नये सिरे से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। सभ्यता की कहानी जाग जाती है। स्वाभाविक तौर पर इतिहास और स्मृति पर सबसे ज्यादा आक्रमण भी होते हैं। ठीक ऐसे ही समय में इतिहास विवेक को न सिर्फ बचाने की बल्कि सक्रिय बनाने की जरूरत भी ज्यादा होती है। यह तो इतिहास विवेक ही जानता है कि लिखित, स्वीकृत और औपचारिक और स्वीकृत इतिहास से कम महत्त्वपूर्ण और कारगर जनमन में जीवित, सामान्यतः बौद्धिक परिसर में अस्वीकृत और अनौपचारिक इतिहास नहीं होता है। साहित्य और संस्कृति के अन्य उपादान जनता के स्मृतिकोश के रूप में ही महत्त्व के हुआ करते हैं। दुहराव के जोखिम पर भी कहना जरूरी है कि विराजनीतिकरण की प्रक्रिया को अतिराजनीतिकरण के कारण सामाजिक मान्यता और वैधता मिलने लगती है। खतरा यह कि विराजनीतिकरण की प्रक्रिया अंततः अपने परिणाम के सारांश में विसमाजीकरण को भी शामिल किये रहती है। ध्यान में रखना आवश्यक है कि सभ्यता की असली समस्या के अधिकांश को इस विसमाजीकरण के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। आज नव-सामाजिक आंदोलनों की जो बयार बह रही है उसमें अपने चरित्र को गैर-राजनीतिक बनाये रखने का आग्रह है। राजनीतिक अतिचार के कारण यह आग्रह पहली नजर में गलत भी नहीं लगता है। राजनीतिक अतिचार के प्रभाव से बाहर आकर सोचने पर इस आग्रह की कई आत्म-विसंगतियों और आत्म-भक्षी प्रवृत्तियों की प्रच्छन्न बारीक रेखाएँ विकट रूप में उजागर होने लगती हैं। अतः सामाजिक प्रक्रियाओं को सत्ता की राजनीति के अतिचार की आत्म-विसंगतियों और विराजनीतिकरण की आत्म-भक्षी प्रवृत्तियों से बचाते हुए राजनीति की प्रक्रियाओं में सामाजिक अंतर्वस्तु को अंतर्विष्ट किये जाने की दोहरी चुनौती को समझना होगा। कहना न होगा कि उन्नीसवीं सदी की अपूर्ण सामाजिक प्रक्रियाओं की चूकों का गहरा विश्लेषण सामाजिक जनतंत्र के सवाल के जवाब तलाशने में निश्चय ही हमारे कुछ काम का तो हो ही सकता है।

यह सच है कि भारत में जनतंत्र की जड़ बहुत गहरी है। सच यह भी है कि इसकी शाखाएँ बड़ी ऊँची है, फल भी पुष्टिकर हैं। लेकिन, विषमताओं से आक्रांत समाज का अनुभव बताता है कि इसकी जड़ को सींचने में जिनका पसीना जितना ज्यादा बहता है उनकी पहुँच से इसके फल उतने ही दूर होते हैं। सामाजिक अंतर्वस्तु को अंतर्विष्ट किये बिना राजनीतिक जनतंत्र शिखर जनतंत्र, अर्थात अपने निकृष्टतम अर्थ में आकाशीय जनतंत्र, बनकर रह जाता है। गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार फल को जमीन पर गिरना चाहिए लेकिन ऐसा होता नहीं है। आकाशीय जनतंत्र आकाश में ही उनके बाँटबखरा का इंतजाम कर लेता है। सामाजिक जनतंत्र के बिना बाँटबखरा का काम जमीन पर हो नहीं सकता है और उतनी ऊँचाई तक विषमता से आक्रांत लोगों के हाथ पहुँच नहीं पाते हैं। जन-आधिकारिकता की बहाली राजनीतिक जनतंत्र के समाजीकरण के बिना संभव नहीं है, इसलिए आज के समय में सामाजिक जनतंत्र के सवाल नये सिरे से अपनी सुनवाई चाहते हैं। लेकिन क्या हम सुन पा रहे हैं इन सवालों की क्रमशः तीव्रतर होती आहट को?

---

1 Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002) मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद ...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्रह्मणों तक ही सीमित न होकर सभी जातियों में धुसा हुआ है। (टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 फरवरी 1938 की रिपोर्ट।)